जैन कर्मसिद्धान्त : नामकर्म के विशेष सन्दर्भ में

❑ डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

अष्ट कर्मों में नाम कर्म का छट्ठा स्थान है। डॉ. श्री फूलचंदजी जैन 'प्रेमी' ने नाम कर्म का स्वरूप उसकी उत्तर प्रकृतियाँ आदि का विवेचन बड़ी ही निष्ठा के साथ किया है।

कर्म सिद्धान्त के विषय में जितनी युक्तियुक्त वैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचना जैन धर्म में की गई है वैसी अन्य किसी भी धर्म में नहीं है। अनेकान्तवाद, अहिंसा आदि सिद्धान्तों की तरह कर्म-सिद्धान्त भी जैन धर्म का अपना विशेष महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैनधर्म की वैज्ञानिक धर्म के रूप में मान्यता या प्रसिद्धि में कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता एक प्रमुख कारण है। कर्म क्या है? क्यों बंधते हैं? बंधने के क्या-क्या कारण हैं? जीवन के साथ वे कब तक रहते हैं? वे क्या-क्या और किस प्रकार फल देते हैं? उनसे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? विविध प्रश्नों का समाधान मात्र जैन धर्म में ही मिलता है।

जैन कर्म सिद्धान्त इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि इसने ईश्वरादि परकर्तृत्व या साहित्कर्तृत्व के भ्रम को तोड़कर प्रत्येक प्राणी को अपने पुरूषार्थ द्वारा उस अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) की प्राप्ति का मार्ग सहज और प्रशस्त किया है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का स्वयं स्रष्टा, स्वर्ग-नरक का निर्माता और स्वयं ही बंधन और मोक्ष को प्राप्त करनेवाला है। इसमें ईश्वर आदि किसी अन्य माध्यम को बीच में लाकर उसे कर्तृत्व मानना घोर मिथ्यात्व बतलाया गया है। इसीलिए **"बुज्झिज्जत्ति त्तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया"** – आगम का यह वाक्य स्मरणीय है जिसमें कहा गया है कि बंधन को समझो और तोड़ो, तुम्हारी अनन्तशक्ति के समक्ष बन्धन की कोई हस्ती नहीं है।

इसीलिए जैन एवं वेदान्त दर्शन का यही स्वर बार-बार याद आता है कि हे आत्मन्। तेरी मुक्ति तेरे ही हाथ में है, तू ही बन्धन करनेवाला है और तू ही अपने को मुक्त करनेवाला भी है-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते।।

इसीलिए किसी एक को दूसरों के सुख-दुःख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञानता है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर स्वयं शुभाशुभ कर्म निष्फल सिद्ध होंगे। इस सन्दर्भ में आचार्य अमितगति का यह कथन स्मरणीय है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा।।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।।

इस तरह जैन कर्म सिद्धान्त दैववाद नहीं, अपितु अध्यात्मवाद है क्योंकि इसमें दृश्यमान सभी अवस्थाओं को कर्मजन्य कहकर यह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा अलग है और कर्मजन्य शरीर अलग है। इस भेद-विज्ञान का सर्वोच्च उपदेष्टा होने के कारण जैन कर्मसिद्धान्त अध्यात्मवाद का ही दूसरा नाम सिद्ध होता है।

कर्म विषयक साहित्य

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य देशी भाषाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कर्म-विषयक जैन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। आचार्य गुणधर विरचित **कसायपाहुडसुत्त** तथा आचार्य वीरसेन स्वामी विरचित इसकी सोलह खण्डों में प्रकाशित बृहद् **जय धवला** नामक टीका, आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि विरचित **षट्खण्डागम** तथा इस पर आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन स्वामी विरचित **धवला** नामक टीका, **पंचसंग्रह, मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार, गोम्मटसार** आदि अनेक महान् ग्रन्थ कर्म-विषयक साहित्य में प्रमुख हैं। इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी हेतु सिद्धान्ताचार्य पं. श्री कैलाशचन्द शास्त्री द्वारा लिखित **"जैन साहित्य का इतिहास"** प्रथम भाग विशेष दृष्टव्य है।

कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया

मूलतः आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं - बद्धदशा और मुक्तदशा। एक में बन्धन है तो दूसरी में मुक्ति। जगत् में कर्मबंध का और आत्मा के अशुद्ध भाव का एक विलक्षण ही सम्बन्ध है। आत्मा में बंध तो निजी विकल्पों के कारण होता है। यदि अन्तः भावों में राग-द्वेष की चिकनाई न हो तो बाह्य पदार्थों के रजकण उस पर चिपक नहीं सकते और न उस आत्मा को मलिन ही कर सकते हैं। आचार्य अकलंकदेव ने तत्वार्थवार्तिक में उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्य (शराब) रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय की क्रिया रूप योग के कारण कर्मरूप परिणमन होता है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमन करते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसे बंध कहते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष की वृत्ति काम करती है। यह प्रवृत्ति अपना एक संस्कार छोड़ जाती है। संस्कार से पुनः प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से पुनः संस्कार निर्मित होते हैं। इस तरह यह सिलसिला बीज और वृक्ष की तरह सनातन-काल से चला आ रहा है। जीव और कर्मों का सम्बन्ध अनादि है या सादि? इसके उत्तर में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध भी है और सादि सम्बन्ध भी है। कार्य-कारण भाव की परम्परा की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। जैसे बीज और वृक्ष का सम्बन्ध। यद्यपि ये सम्बन्ध अनादि से चले आ रहे हैं किन्तु बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता। इस अपेक्षा से प्रत्येक बीज और वृक्ष सादि व सहेतुक हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्मबंध व जीव का विकारी परिणाम सहेतुक व सादि है, किन्तु संतान-परंपरा की अपेक्षा अनादि है। (सर्वार्थ सिद्धि २/४१)

प्रायः सभी परलोकवादी दर्शनों की यह मान्यता है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा संस्कार पड़ जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है किन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे संस्कार आत्मा में मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलों का उस आत्मा से बंध भी मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोक में सूक्ष्म कर्म पुद्गल स्कन्ध भरे हुए हैं। जो इस जीव की कायिक, वाचिक या मानसिक प्रवृत्ति रूप योग से आकृष्ट होकर स्वतः आत्मा से बद्ध हो जाते हैं और आत्मा में वर्तमान कषाय के अनुसार उनमें स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदय में आते हैं तो अच्छा या बुरा फल देते हैं। इस प्रकार जीव पूर्वबद्ध कर्म के उदय से क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्म का बंध करता है।

कर्मबंध के चार भेद हैं १. कर्मों में ज्ञान को घातने,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख-दु:खादि देने का स्वभाव पड़ना **प्रकृतिबंध** है। २. कर्म बंधने पर जितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहेंगे, उस समय की मर्यादा का नाम **स्थितिबंध** है। ३. कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदान की शक्ति का पड़ना **अनुभाग बन्ध** है। ४. कर्म परमाणुओं की संख्या के परिणाम को **प्रदेश-बंध** कहते हैं।

इनमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। योग जितना तीव्र या मन्द होता है, तदनुसार ही पौद्‌गलिक कर्मस्कन्ध आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती है, तदनुसार ही धूल उड़ती है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे तीव्र या मन्द होते है, तदनुसार ही कर्म पुद्‌गलों में तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पड़ता है। इस तरह योग और कषाय बंध के कारण है। इनमें भी कषाय ही संसार की जड़ है। क्योंकि कषायों के बिना कर्म परमाणु आत्मा में टिकते नहीं है। जबकि आत्मा में चुम्बक की तरह एक आकर्षण शक्ति होती है, जो संसार में सर्वत्र पाये जाने वाले सूक्ष्म कार्मण स्कन्धों को अपनी ओर खींचा करती है। आत्मा की इस आकर्षण शक्ति को ही "योग" कहा जाता है। इस तरह कर्म पुद्‌गलों का खिंच आकर आत्मा से सम्बन्ध करना और उनमें स्वभाव का पड़ना, यह कर्मयोग (मन, वचन, कामरूप क्रिया) से होता है। यदि वे कर्म पुद्‌गल किसी के ज्ञान में बाधा डालनेवाली क्रिया से खिंचे हैं तो उनमें ज्ञान गुण को आवृत (ढ़कने) करने का स्वभाव पड़ेगा। और यदि रागादि कषायों से खिंचे है तो चारित्र के नष्ट करने का स्वभाव पड़ेगा।

जिस तरह खाया हुआ अन्न अपने आप रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी आदि के रूप में बदल जाता है। उसी तरह से ये आत्मा के साथ संबंधित "कर्म" भी तरह-तरह के भेदों में बदल जाते हैं, जिन्हें हम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय – इन आठ भेदों या नामों से पुकारते हैं। और ये कर्म ही विभिन्न रूप में आत्मा के साथ संबंधित होकर मनुष्यों में और समस्त जीवधारियों में हीनाधिकता पैदा किया करते हैं। ये आठ कर्म ही आत्मा के निर्मल स्वरूप को किसी न किसी प्रकार धूमिल बनाते रहते हैं। इसीलिए इन आठ कर्मों का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार नामकरण भी हैं। इनमें आत्मा के गुणों का घात करने के कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय — ये चारों घातिया कर्म कहलाते हैं क्योंकि आत्म विकास में ये विशेष बाधक होते हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारों अघातिया कर्म कहलाते हैं। इनमें चार घातिया कर्म के नाश से सर्वज्ञता से समलंकृत आत्मा निज स्वरूप में लीन रहती हुई **अरहंत** पद प्राप्त करती है, जब कि घातिया, अघातिया समस्त कर्मों के पूरी तरह क्षय हो जाने पर पूर्ण विशुद्धि रूप **"सिद्ध"** स्वरूप की प्राप्ति होती है।

पूर्वोक्त जैन कर्म सिद्धान्त के विशेष सन्दर्भ में "नामकर्म" को इसलिए इस निबंध में विशेष सन्दर्भित किया जा रहा है चूँकि उपर्युक्त आठ कर्मों में इस नामकर्म का अनेक दृष्टियों से विशेष महत्व है। आज संसार में अनन्तानन्त प्रकार के जीवों में जो विविधता, समानता, चित्र-विचित्रता, आकार-प्रकार, उनका अपना-अपना स्वभाव, स्पर्श, गन्ध, यश-अपयश आदि दिखलाई देता है, वह सब इसी नाम कर्मोदय की महिमा है न कि किसी ईश्वर विशेष की। परकर्तृत्व के भ्रम को तोड़ने में यही कर्म विशेष कार्य करता है। चौरासी लाख योनियों में जीव की अनन्त आकृतियाँ हैं। इन सबके निर्माण का कार्य यह नामकर्म ही करता है। इसी से शरीर और उसके अंगोपांग आदि की रचना होती है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार इस नामकर्म के उदय से हमारा शरीर और उसके अंगोपांगों का निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी होता है। सुन्दर, विकृत, छोटा, बड़ा शरीर आदि सब शुभाशुभ नामकर्म के उदय से बनते हैं। इस प्रकार विश्व की विचित्रता में नामकर्म रूपी चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है न कि ईश्वरादि किसी अन्य विशेष की। इसीलिए तो जिनसेनाचार्य ने कहा है-

विधिः स्रष्टा विधाता च दैवकर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः।।

— महापुराण ३७/४

नामकर्म का स्वरूप

नामकर्म के विशेष विवेचन के पूर्व सर्वप्रथम उसका स्वरूप जान लेना भी आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है-

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरियं वा सुरं कुणदि।।

— प्रवचनसार ११७

अर्थात् नाम संज्ञा वाला कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी अथवा देवरूप करता है। धवला टीका (६/१, ६ तथा १०/१३/३) में कहा है जो नाना प्रकार की रचना निर्वृत्त करता है वह नामकर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं वे "नाम" इस संज्ञावाले होते हैं[२]। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थिसिद्धि (६/१, ६ तथा १०/१३/३) में बतलाया है कि आत्मा का नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्म की प्रकृति (स्वभाव) है, जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह "नामकर्म" है।

इस नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ तथा तैरानवें उत्तर प्रकृतियाँ है। इनका विश्लेषण आगे किया जाएगा। इनमें शरीर नामकर्म के अन्तर्गत शरीर के पाँच भेदों का निरूपण विशेष दृष्टव्य है। वस्तुतः औदारिक या वैक्रियिक शरीर योग्य कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करना, यही जन्म का प्रारम्भ है। कर्मों के ही उदय से वह जीव बिना चाहे हुए मरण करके दूसरी पर्याय में उत्पन्न होता है। वहाँ वर्गणाओं का ग्रहण नामकर्म के उदय से स्वयमेव होता रहता है। ये वर्गणाएँ स्वयं ही पर्याप्ति, निर्माण, अंगोपांग आदि के उदय से औदारिक या वैक्रियिक शरीर के आकार परिणमन कर जाती है। जैसे - जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर लोक में सर्वत्र फैली हुई कार्मण वर्गणाएँ स्वयं ही अपने-अपने स्वभावानुसार ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त आठ कर्मरूप परिणमन कर जाती है। इसी तरह नाम कर्म तथा गोत्रकर्म के उदय से भिन्न-भिन्न जाति की वर्गणाएँ स्वयं अनेक प्रकार के देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंचों के शरीर के आकार रूप परिणमन कर जाती हैं। इस तरह यह शरीर आत्मा का कोई कारण या कार्य नहीं है, कर्मों का ही कार्य है।

कार्मण शरीर का निर्माण सूक्ष्म बीज रूप अदृश्य वर्गणायें ही करती हैं। जैसे महान् वटवृक्ष का अत्यन्त छोटा बीज या महासागर का एक बूँद जल, वृक्ष अथवा सागर की सारी प्रकृति, गुण, ढाँचा आदि अपने भीतर आत्मसात् किए हुए रहता है, वैसे ही ये बीज कार्मण वर्गणाएँ भी अलग-अलग उन सभी विभिन्न रासायनिक संगठनों की प्रतिनिधि स्वरूप उनके विभिन्न गुण-प्रभाव से युक्त रहती हैं। इन्हीं बीज रूप कार्मण वर्गणाओं द्वारा परिचालित या प्रेरित हमारे मन, वचन और शरीर (इन्द्रियों) द्वारा होने वाले सभी कार्य या कर्म होते हैं। इस तरह हमारे सभी कर्मों का उद्गम स्थान-ये आंतरिक रासायनिक संगठन रूप वर्गणायें (मॉलीक्यूलस) ही हैं। अब यहाँ "नामकर्म" की बयालीस प्रकृतियों का स्वरूप विवेचन प्रस्तुत है।

नामकर्म और उसकी प्रकृतियाँ

नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं। इन्हें पिण्ड प्रकृतियाँ भी कहते हैं। ये इस प्रकार हैं - गति, जाति, शरीर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, अंगोपांग, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारण, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, आदेय, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, दुःस्वर, सुस्वर, अयशस्कीर्ति, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थकरत्व[३]। ये ही नामकर्म के भेद (प्रकार) कहे जाते हैं। इनका विवेचन प्रस्तुत है।

१. गति नामकर्म

गति, भव, संसार – ये पर्यायवाची शब्द हैं[४]। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को गमन करता है वह गति नामकर्म है। यदि यह कर्म न हो तो जीव गति रहित हो जाएगा। इसी गति नामकर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति - ये इसके चार भेद हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से आत्मा को नरक, तिर्यंच आदि भव प्राप्त होते हैं, उनसे युक्त जीवों को उन-उन गतियों में नरक गति, तिर्यंचगति आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं।

२. जाति नामकर्म

जिन कर्मस्कन्धों से सदृशता प्राप्त होती है, जीवों के उस सदृश परिणाम को जाति कहते हैं[५]। अर्थात् उन गतियों में अव्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव (एकरूपता) का नाम जाति है। यदि जाति नामकर्म न हो तो खटमल खटमल के समान, बिच्छू बिच्छू के समान इसी प्रकार अन्य सभी प्राणी सामान्यतः एक जैसे नहीं हो सकते। जाति के पाँच भेद हैं – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके लक्षण इस प्रकार हैं- जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा हो अर्थात् एकेन्द्रिय शरीर धारण करे उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते है। इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि का स्वरूप बनता है।

३. शरीर नामकर्म

जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। यह कर्म आत्मा को आधार या आश्रय प्रदान करता है। क्योंकि कहा है कि **"यदि शरीर नामकर्म न स्यादात्मा विमुक्तः स्यात्-[६]"** अर्थात् यदि यह कर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जाय। इसके भी पाँच भेद हैं – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस् और कार्मण शरीर। जिसके उदय से जीव के द्वारा, ग्रहण किये गये आहार वर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव से परिणत होकर औदारिक शरीर रूप हो जाते हैं उसका नाम औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अन्य भेदों का स्वरूप बनता है[७]।

४. बन्धन नामकर्म

शरीर नामकर्म के उदय से जो आहार-वर्गणारूप पुद्गल-स्कन्ध, ग्रहण किये उन पुद्गलस्कन्धों का परस्पर संश्लेष सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से हो उसे बंधन-नामकर्म कहते हैं। यदि यह कर्म न हो तो यह शरीर बालू द्वारा बनाये हुए पुरुष के शरीर की तरह हो जाए। इसके भी औदारिक, वैक्रियिक शरीर बन्धन आदि पाँच भेद हैं[८]।

५. संघात नामकर्म

जिसके उदय से औदारिक शरीर छिद्ररहित परस्पर प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाह रूप एकत्व प्राप्त हो उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी औदारिक-शरीर- संघात आदि पाँच भेद हैं।

६. संस्थान नामकर्म

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है। इसके छह भेद हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादिक, वामन, कुब्जक और हुंडक (विध आकार) संस्थान।

७. संहनन नामकर्म

जिसके उदय से हड्डियों की संधि में बंधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। इसके छह भेद हैं- १. वज्रऋषभनाराच, २. ऋषभनाराच, ३.नाराच, ४.अर्द्धनाराच, ५. कीलक और ६. असंप्राप्तासृपटिका / सेवार्त संहनन[१०]।

८. अंगोपांग नामकर्म

जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की स्पष्ट रचना हो वह अंगोपांग नामकर्म है। इसके तीन भेद हैं - औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर अंगोपांग[११]।

९. वर्ण नामकर्म

जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल-ये वर्ण (रंग या रूप) उत्पन्न हों वह वर्ण नामकर्म है। इन ५ वर्णों से ही इसके पाँच भेद बनते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों में कृष्णता प्राप्त होती है वह कृष्णवर्ण नामकर्म है। इसी तरह अन्य हैं[१२]।

१०. रस नामकर्म

इसके उदय से शरीर में जाति के अनुसार जैसे नीबू, नीम आदि में प्रतिनियत तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर रस उत्पन्न होते हैं। यही इस नामकर्म के पाँच भेद है।

११. गन्ध नामकर्म

जिसके उदय से जीव शरीर में उसकी जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न हो वह गन्ध नामकर्म है। इसके दो भेद हैं – सुगन्ध और दुर्गन्ध।

१२. स्पर्श नामकर्म

जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उसकी जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न हो। जैसे सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। इसके आठ भेद हैं - कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और ऊष्ण।

१३. आनुपूर्वी नामकर्म

जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में पूर्वशरीर (मरण से पहले के शरीर का) आकार रहे उसका नाम आनुपूर्वी है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता और उत्तम शरीर, ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पाई जाती है। इसके चार भेद हैं- नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी।

१४. अगुरू लघु नामकर्म

जिसके उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड की तरह गुरू (भारी) होकर न तो नीचे गिरे और रूई के समान हल्का होकर ऊपर भी न जाय उसे अगुरूलघु नामकर्म कहते हैं।

१५. उपघात नामकर्म

"उपेत्य घातः उपघातः" अर्थात् पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बंधन और पर्वत से गिरना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नामकर्म है। अथवा जो कर्म जीव को अपने ही पीड़ा में कारणभूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचता है वह उपघात है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. परघात नामकर्म

जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अंगोपांग हो उसे परघात नामकर्म कहते हैं। जैसे बिच्छू की पूंछ आदि।

१७. उच्छ्वास

जिसके उदय से जीव में श्वासोच्छ्वास हो।

१८. आतप

जिसके उदय से जीव के शरीर में आतप अर्थात् अन्य को संतप्त करने वाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप है। जैसे सूर्य आदि में होने वाले पृथ्वीकायिक आदि में ऐसा चमत्कारी प्रकाश दिखता है।

१६. उद्योत

जिसके उदय से जीव के शरीर में उद्योत (शीतलता देने वाला प्रकाश) उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है। जैसे चन्द्रमा, नक्षत्र, विमानों और जुगनू आदि जीवों के शरीरों में उद्योत होता है।

२०. विहायोगति

जिसके उदय से आकाश में गमन हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके प्रशस्त और अप्रशस्त – ये दो भेद हैं।

२१. त्रस नामकर्म

जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में उत्पन्न हो, उसे त्रस नामकर्म कहते है।

२२. स्थावर

जिसके उदय से एकेन्द्रिय जीवों (स्थावर कायों) में उत्पन्न हो वह स्थावर नामकर्म है।

२३. बादर (स्थूल)

जिसके उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकनेवाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

२४. सूक्ष्म नामकर्म

जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

२५. पर्याप्ति

जिसके उदय से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन – इन छह पर्याप्तियों की रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है। ये ही इसके छह भेद हैं।

२६. अपर्याप्ति

उपर्युक्त पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप्ति है।

२७. प्रत्येक शरीर नामकर्म

जिसके उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते है।

२८. साधारण शरीर नामकर्म

जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हो, उसे साधारण-शरीर नामकर्म कहते है।

२६. स्थिर नामकर्म

जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, हड्डी और शुक्र) – इन सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है।

३०. अस्थिर

जिसके उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिर रूप परिणमन होता जाता है वह अस्थिर नामकर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१. शुभ नामकर्म

जिसके उदय से शरीर के अंगों और उपांगों में रमणीयता (सुन्दरता) आती है वह शुभनामकर्म है।

३२. अशुभ नामकर्म

जिसके उदय से शरीर के अवयव अमनोज्ञ हों उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

३३-३४. सुभग, दुर्भग नामकर्म

जिसके उदय से स्त्री-पुरुष या अन्य जीवों में परस्पर प्रीति उत्पन्न हो उसे सुभग नामकर्म तथा रूपादि गुणों से युक्त होते हुए भी लोगों को जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

३५-३६. आदेय, अनादेय नामकर्म

जिसके उदय से आदेय-प्रभा सहित शरीर हो वह आदेय तथा निष्प्रभ शरीर हो वह अनादेय नामकर्म है।

३७-३८. सुस्वर, दुस्वर नामकर्म

जिसके उदय से शोभन (मधुर) स्वर हो वह सुस्वर तथा अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुःस्वर नामकर्म है।

३९-४०. यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति नामकर्म

जिसके उदय से जीव की प्रशंसा हो वह यशः कीर्ति तथा निन्दा हो वह अयशः कीर्ति नामकर्म है।

४१. निमान (निर्माण) नामकर्म

निश्चित मान (माप) को निमान कहते हैं। इसके दो भेद हैं-प्रमाण और स्थान। जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की रचना यथाप्रमाण और यथा स्थान हो उसे निमान या निर्माण नामकर्म कहते हैं।

४२. तीर्थंकर नामकर्म

जिस कर्म के उदय से तीन लोकों में पूज्य परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार ये नामकर्म की ४२ पिण्ड प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं में एक-एक की अपेक्षा इनके ९३ भेद हैं। इनमें अन्तिम तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का विधान है। यद्यपि ये एक साथ सभी सोलह भावनाएँ आवश्यक नहीं है किन्तु एक दर्शन विशुद्धि अति आवश्यक होती है। दो से लेकर सोलह कारणों के विकास से भी तीर्थंकर नामकर्म बंध होता है।

इस प्रकार नामकर्म की बयालीस प्रकृतियों तथा उत्तर भेद रूप तेरानवें प्रकृतियों के स्वरूप विवेचन से स्पष्ट है कि यह नामकर्म कितना व्यापक, सूक्ष्म और अति संवेदनशील कर्म है। आधुनिक विज्ञान में जहाँ नित-नवीन प्रयोग हो रहे हैं, वहीं इस नामकर्म की महत्ता और

---

१. जैन साहित्य का इतिहास प्रथम भाग पृ. ३८
२.
३. मूलाचार १२/१९३-१९६ तत्वार्थसूत्र ८/११
४. गतिर्भवः संसारः मूलाचार टीका १२/९३
५. जातिर्जीवानां सदृशः परिणाम — वही
६-७-८. मूलाचारवृत्ति १२/१९३
९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड हिन्दी टीका (आर्यिका आदिमती जी) पृ. २९
१०-१२. मूलाचारवृत्ति १२/१९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बढ़ जाती है। नामकर्मोदय से प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी विशेष पहचान वाला स्पर्श, गन्ध, स्वर आदि होते हैं। आज वैज्ञानिक क्षेत्र में इनकी संवेदनाओं का विशेष शोध-खोजपूर्ण अध्ययन हो रहा है और हमारे सामाजिक जीवन में उपयोग करके उनसे लाभ भी लिया जा रहा है। जैसे अपराध और अपराधियों की खोज करने के लिए सूंघकर अपराधी का पता लगाने वाले विशेष कुत्तों को पुलिस प्रशिक्षित करके इनके द्वारा अपराध संबंधी अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहज ही सफलता प्राप्त कर लेती है। यह गन्ध नामकर्म की ही महत्ता है। "स्पर्श" के द्वारा भी अनेक सम्वेदनाओं का ज्ञान सहज हो जाता है। इसी प्रकार नामकर्म की इन प्रकृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन रोमांचिक उपलब्धि से युक्त होकर विभिन्न क्षेत्रों में बहुआयामी रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

✣ ✣ ✣

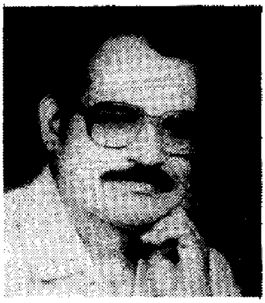

❑ **जैनदर्शन, साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति के संवर्द्धन, संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार में सदैव तत्पर डॉ. श्री फूलचन्दजी जैन 'प्रेमी' का जन्म १२ जुलाई १९४८ को दलपतपुर ग्राम (सागर-म.प्र.) में हुआ। प्रारंभिक शिक्षोपरांत आपने जैनधर्म विशारद, सिद्धान्त शास्त्री, साहित्याचार्य, एम.ए. एवं शास्त्राचार्य की परीक्षाएं दी। "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी. की उपाधि से विभूषित डॉ. प्रेमी जी को कई पुरस्कारों से आज दिन तक सम्मानित किया गया है।**

जैन जगत् के मूर्धन्य विद्वान् डॉ. प्रेमी ने अनेक कृतियों का लेखन-संपादन करके जैन साहित्य में श्री वृद्धि की है। अनेक शोधपरक निबंध जैन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ! राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में जैनदर्शन विषयक व्याख्यान ! 'जैन रत्न' की उपाधि से विभूषित डॉ. प्रेमी जी सरलमना एवं सहृदयी सज्जन है।

मृग की नाभि में कस्तूरी की पिण्डिका रहती है। उसको अपने पिंड से सुगन्धी आती है, किन्तु वह उसको ढूँढता बाहर फिरता है। उसके लिए वह पूरे जंगल को छान मारता है, सूंघता रहता है कि यह सुगन्धी कहाँ से आती है? लेकिन प्राप्त नहीं होती। क्यों? उसको उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं है। सुगन्धी तो उसके अपने शरीर में ही है। लेकिन वह उसे बाहर ढूँढता-ढूँढता ही जन्म गवां देता है, बंधुओ! हमारी भी यही हालत है, हम ढूँढते रहते हैं, सुख यहाँ मिलेगा, वहाँ मिलेगा, वहाँ भागते है, वहाँ भागते है, कितना उपक्रम करते हैं – इच्छित सुख की प्राप्ति के लिए। लेकिन इच्छित सुख मिलता नहीं। क्योंकि हम सुख का आधार वस्तु को मानकर चलते है। ज्ञानी पुरुष, मनीषी साधक, सुख का आधार वस्तु को नहीं आत्मा को मानते है। अनंत सुखात्मक आत्मा ही है।

— सुमन वचनामृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org